

## आरटीआई वर्सेस कोर्ट: विवाद का सुखद अंत

- विष्णु राजगडिया

सुप्रीम कोर्ट की संवैधानिक बेंच ने आरटीआई को लेकर दस साल से जारी विवाद का अंत कर दिया है। बेंच ने केंद्रीय सूचना आयोग द्वारा वर्ष 2009 में पारित फैसले पर मुहर लगा दी है। इस तरह सर्वोच्च न्यायालय ने खुद को आरटीआई के दायरे में रखना स्वीकार कर लिया है। सुप्रीम कोर्ट जजों की संपत्ति की सार्वजनिक करने का यह ऐतिहासिक मामला है। दिलचस्प है कि इस मामले में केंद्रीय सूचना आयोग ने सर्वोच्च अदालत के विरुद्ध निर्णय सुनाया था। इसके बाद अपनी अधीनस्थ दिल्ली हाईकोर्ट में भी दो बार हार को सामना करना पड़ा था। अब स्वयं सुप्रीम कोर्ट में भी अपने पुराने स्टैंड को वापस लेते हुए केंद्रीय सूचना आयोग तथा दिल्ली हाईकोर्ट के फैसलों को मान लिया गया। सुप्रीम कोर्ट की पांच सदस्यीय संवैधानिक बेंच ने 13 नवंबर को आरटीआई संबंधी चर्चित मामले में यह निर्णय सुनाया है। इसके अनुसार सर्वोच्च न्यायालय, मुख्य न्यायाधीश कार्यालय को आरटीआई के अंतर्गत लोक प्राधिकार की श्रेणी में मान लिया गया। फैसले में जस्टिस संजीव खन्ना ने लिखा- 'पारदर्शिता से न्यायिक स्वतंत्रता बाधित नहीं होती बल्कि यह जनहित में होगी।' यह मामला वर्ष 2008 में शुरू हुआ था। दिल्ली निवासी वरिष्ठ नागरिक सुभाष चंद्र अग्रवाल ने सुप्रीम कोर्ट से सूचना मांगी थी कि न्यायाधीश अपनी संपत्ति का विवरण जमा करते हैं अथवा नहीं? सुप्रीम कोर्ट ने सूचना नहीं दी। तब केंद्रीय सूचना आयोग की फुल बेंच ने जनवरी 2009 को श्री अग्रवाल के पक्ष में निर्णय सुनाया। सुप्रीम कोर्ट को निर्देश दिया गया कि सूचना उपलब्ध कराए।

सुप्रीम कोर्ट ने इसे मानने के बजाय दिल्ली हाईकोर्ट में याचिका दायर कर दी। हाईकोर्ट के जस्टिस एस. रवींद्र भट्ट ने केंद्रीय सूचना आयोग के फैसले को बरकरार रखा। तब सुप्रीम कोर्ट ने दिल्ली हाईकोर्ट में पुनर्विचार याचिका दायर की। दिलचस्प यह कि हाईकोर्ट की तीन सदस्यीय बेंच ने भी जनवरी 10 में ही सुप्रीम कोर्ट के खिलाफ फैसला सुनाया। इस बेंच में चीफ जस्टिस एपी शाह, जस्टिस विक्रमजीत सेन, जस्टिस एस. मुरलीधर शामिल थे। दिल्ली हाईकोर्ट की तीन सदस्यीय बेंच के इस के फैसले के खिलाफ सुप्रीम कोर्ट ने स्वयं सुप्रीम कोर्ट में अपील दायर कर ली। इसके अलावा, सुप्रीम कोर्ट ने केंद्रीय सूचना आयोग के दिनांक 24 नवंबर 2009 के एक अन्य मामले को भी सुप्रीम कोर्ट में चुनौती दी थी। यह मामला उच्च न्यायिक पदों पर नियुक्ति के संबंध में भारत के मुख्य न्यायाधीश तथा सरकार के बीच पत्र व्यवहार को सार्वजनिक करने के संबंध में था। सुप्रीम कोर्ट की डिविजन बेंच ने इस मामले के साथ सुभाष चंद्र अग्रवाल के उक्त मामले को भी जोड़ दिया। दोनों मामले 26 नवंबर 2010 को सुप्रीम कोर्ट की तीन सदस्यीय बेंच को सौंपे गए। इस बेंच ने 17 अगस्त 2016 को यह मामला पांच सदस्यीय संवैधानिक बेंच को सौंप दिया। दस साल पुराने इस मामले का फैसला अब 13 नवंबर को आया है। इसमें केंद्रीय सूचना आयोग और दिल्ली हाईकोर्ट के निर्णय की पुष्टि की गई है। इस तरह दस साल से ज्यादा लंबा वक्त अनावश्यक मुकदमेबाजी का नकारात्मक उदाहरण है। सूचना का अधिकार अधिनियम 12 अक्टूबर 2005 को लागू हुआ था। इसकी परिभाषा के अनुसार 'लोक प्राधिकार' वह संस्थान है, जिसकी स्थापना संविधान, संसद या विधानसभा के माध्यम से हुई हो। सरकारी खर्च से चलनेवाले संस्थान भी लोक प्राधिकार माने गए। केंद्र और राज्यों की तमाम संस्थाओं में इसका समुचित अनुपालन किया। लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने संसद के इस अधिनियम की स्पष्ट व्याख्या को चुनौती दी। लिहाजा, वर्ष 2005 में बना यह कानून अनावश्यक अदालती प्रक्रिया में उलझ गया। इस प्रकरण में सकारात्मक बात यह भी है कि देश की कई उच्च न्यायालयों के जजों ने अपनी संपत्ति की सूचना खुद ही सार्वजनिक कर दी। यहां तक कि सुप्रीम कोर्ट के 34 में से सात जजों ने भी ऐसा कर रखा है। ऐसे उदाहरण लोकतंत्र के प्रति सम्मान का संकेत हैं। उम्मीद करें, सुप्रीम कोर्ट के ताजा फैसले से आरटीआई को नकारने की प्रवृत्ति

पर रोक लगेगी और सभी संवैधानिक संस्थाएं इसका अक्षरशः अनुपालन करेंगी। दिलचस्प बात यह है कि सूचना का अधिकार अधिनियम में जो परिभाषा स्वतः व्याख्यायित है, उस पर इतना लंबा मुकदमा चला। देश में न्यायिक सुधार के पक्षधर लोग मानते हैं कि अनावश्यक विवाद जारी रखने के कारण अदालतों पर बोझ बढ़ता है। यह इसके चरम उदाहरण के तौर पर याद किया जाएगा।

इस फैसले ने देश के चर्चित आरटीआई कार्यकर्ता सुभाष चंद्र अग्रवाल के बड़ी सफलताओं में एक और अध्याय जोड़ दिया है। श्री अग्रवाल के अनुसार, जिस तरह न्याय में विलंब करना न्याय से इंकार करना है, उसी तरह सूचना देने में विलंब करना भी सूचना देने से इंकार करना है। श्री अग्रवाल इस बात पर हैरान हैं कि विभिन्न अवसरों पर लगातार पराजय के बावजूद सुप्रीम कोर्ट ने इस अनावश्यक रूप से लटका रखा है। जबकि आम तौर पर सरकारें ऐसे विवादों को अदालतों में लटकाए रखती हैं। इस संदर्भ में सुप्रीम कोर्ट की सात सदस्यीय बैंच ने जुलाई 2017 के एक सुझाव की भी चर्चा प्रासंगिक है। जस्टिस सी.एस. कर्णन प्रकरण में इस बैंच ने उच्च न्यायिक पदों पर नियुक्ति की प्रक्रिया की समीक्षा का सुझाव दिया था। जाहिर है कि न्यायिक संस्थाओं में व्यापक पारदर्शिता के पक्ष में माहौल बनता जा रहा है। इसे कृत्रिम तरीकों से टालना उचित नहीं था। सुप्रीम कोर्ट बनाम आरटीआई मामले के इस सुखद अंत से न्यायपालिका की गरिमा बढ़ी है। अब तक यह धारणा बन रही थी कि देश के उच्च न्यायिक संस्थान को संसद द्वारा बनाए गए अधिनियम की परवाह नहीं है। देश में कानून का राज तब माना जाएगा, जब कोई भी कानून लागू होते ही तमाम संबंधित संस्थान उसका अक्षरशः अनुपालन करें। तमाम कानूनों के अनुपालन की उम्मीद सिर्फ आम नागरिकों से ही करना अनुचित होगा। उच्च संवैधानिक संस्थाएं अमर आदर्श स्थापित न कर सकें, तो गलत संदेश जाता है। संसद के पारित कानून में अनावश्यक विवाद खड़ा करके कोई संवैधानिक संस्था अमर दस साल तक खुद को उसके दायरे से बाहर रख ले, तो इसे हमारी लोकतांत्रिक प्रणाली में किसी बड़े संकट के तौर पर ही जाना जाएगा। फिलहाल इस मामले के पटाक्षेप के बाद उम्मीद करें कि राजनीतिक दल भी खुद को आरटीआई के दायरे में रखना स्वीकार करेंगे। इस बाबत भी केंद्रीय सूचना आयोग का बहुचर्चित फैसला अब तक लागू नहीं हो सका है।

(लेखक आरटीआई के विशेषज्ञ और वरिष्ठ पत्रकार हैं। प्रस्तुति: मनुज फीचर सर्विस)

नोट: मनुज फीचर सर्विस में छपे लेखों के विचार लेखक के अपने हैं। माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय का इनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है। यहां प्रकाशित सामग्री का उपयोग गैर व्यावसायिक कार्यों के लिए करने हेतु किसी अनुमति की आवश्यकता नहीं है। मनुज फीचर सर्विस का उल्लेख अवश्य करें।